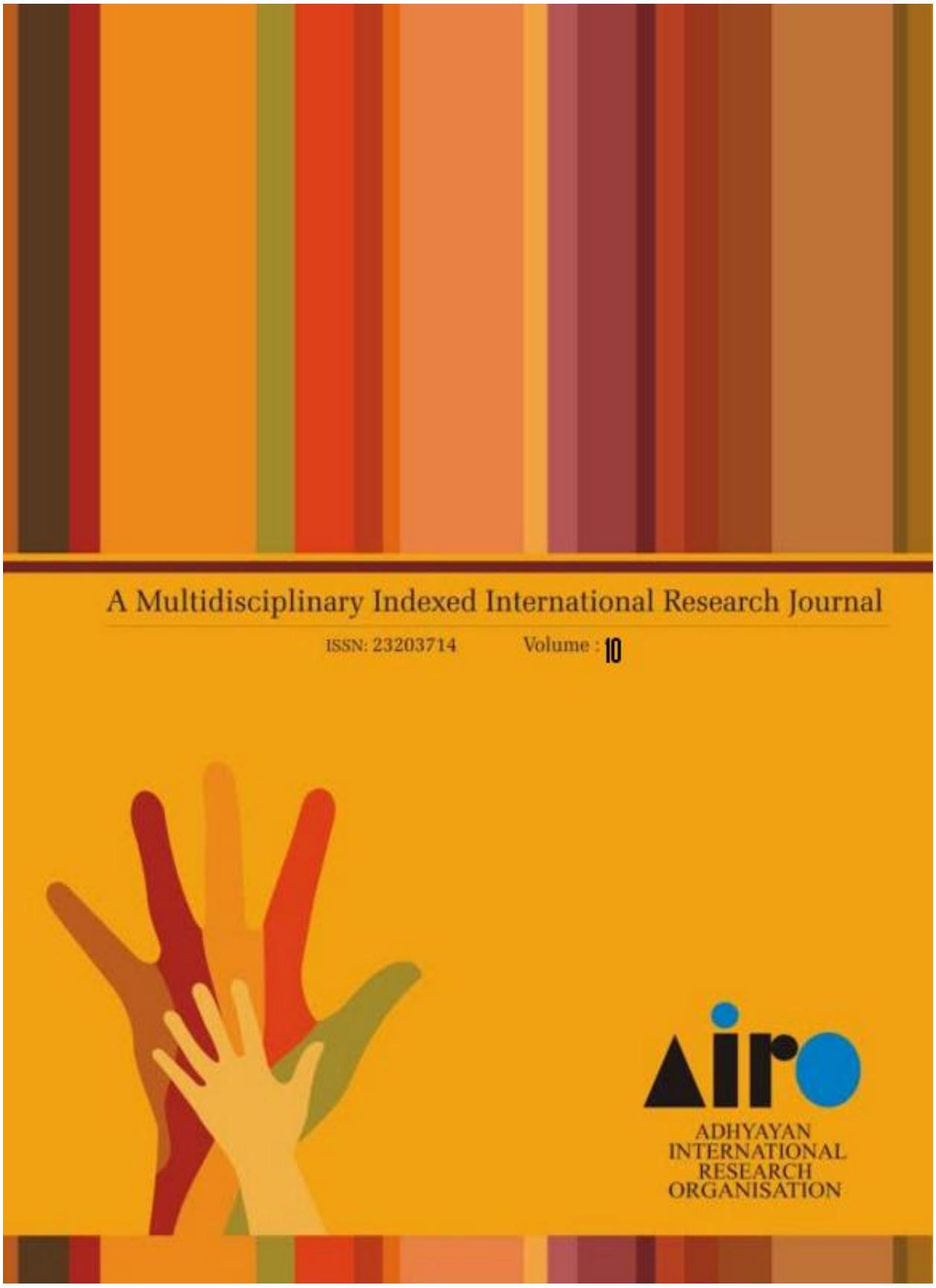
A Multidisciplinary Indexed International Research Journal
ISSN: 23203714 Volume : 10
Airo
ADHYAYAN
INTERNATIONAL
RESEARCH
ORGANISATION

समाज और उसके घटक

डॉ0 अखिल सिंह

सहायक महाप्रबंधक

विक्रांत सैफ गार्ड इंडिया प्राइवेट लिमिटेड, नौएडा

Declaration of Author: I hereby declare that the content of this research paper has been truly made by me including the title of the research paper/research article, and no serial sequence of any sentence has been copied through internet or any other source except references or some unavoidable essential or technical terms. In case of finding any patent or copy right content of any source or other author in my paper/article, I shall always be responsible for further clarification or any legal issues. For sole right content of different author or different source, which was unintentionally or intentionally used in this research paper shall immediately be removed from this journal and I shall be accountable for any further legal issues, and there will be no responsibility of Journal in any matter. If anyone has some issue related to the content of this research paper's copied or plagiarism content he/she may contact on my above mentioned email ID.

समाज शब्द का विस्तृत उल्लेख आदिकाल से वर्तमान तक अनवरत् चला आ रहा है। समय–समय पर अनेक विद्वानों ने समाज की अनेकानेक परिभाषाएं दी है। जिनकी संख्या नहीं गिनी जा सकती और अंत में हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र की उतनी ही परिभाषाएं हैं, जितने की उसके विद्वान, क्योंकि प्रत्येक विद्वान की अपनी एक अलग सोच होती है, जिसे वह लेखन के द्वारा अभिव्यक्त करता है।

वैदिक विचारकों जिनमें मुख्यतः पाड़स्कर आदि धर्मशास्त्रों के प्रणेता, जैमिनी, गौतम आदि तत्व सम्बन्धी ज्ञान के व्याख्याताओं से लेकर महर्षि दयानन्द सरस्वती तक का यह दृढ़ विश्वास है कि मानवीय समाज सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान, ईश्वर ने समाज को विकसित करने से पूर्व ही मनुष्यों के चित्त में वेदों के रूप में प्रकट कर दिया था। मनु के अनुसार धर्म वेद से ही उत्पन्न हुआ है।[1] इसके अतिरिक्त चार वर्ग–ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र और इनकी व्यवस्था, तीनों लोक पृथ्वी, आकाश एवं द्यूलोक इनसे अतिरिक्त ग्रह, नक्षत्र आदि, चार आश्रम – ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन आश्रमों के अलग–अलग गुण–धर्म एवं नियम, भूत–भविष्य तथा वर्तमान सर्व कालों की विद्या, ये सभी वेदों से ही प्रकट होती है।[2] शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध, ये उत्पत्ति, गुण और कार्य के ज्ञानरूप से वेदों से ही उत्पन्न होते हैं।[3]

उपरोक्त से अभिप्राय है कि इन तत्त्वशक्तियों का उत्पत्ति विज्ञान, इनके गुणों का ज्ञान, इनकी उपयोगिता का ज्ञान और उत्पन्न समस्त जड़ चेतन संसार का ज्ञान–विज्ञान हमें वेदों से ही प्राप्त होता है।

इसके सम्बन्ध में मान्यता है कि जब भी कोई मनुष्य किसी भी मशीन, औषधि इत्यादि को खरीदता है, तो उसे उसके साथ एक निर्देश पत्र मिलता है, जिसमें लिखा होता है कि इसे उपयोग में कैसे लाना है। ठीक इसी तरह से ईश्वर ने जब मनुष्यों को यह संसार दिया तो, इसके उपयोग के लिए वेदों को भी मनुष्यों को उपलब्ध कराया। इसके सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द की मान्यता है कि सृष्टि के आदि में ईश्वर ने ऋग्, यजु, साम और अथर्व नाम के चार वेद क्रमशः अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा के अंतःकरण में प्रकाशित किए।[4]

वेदों को सृष्टि का मूल शास्त्र सिद्ध करने के पीछे तात्पर्य यह है कि वेद ही मानव जाति का प्रारम्भिक समाज शास्त्र हैं जब हम यूरोपीय समाजशास्त्री हरबर्ट स्पेन्सर और अमेरिकन मैकाइवर की समाजशास्त्र सम्बन्धी विचारों को देखते हैं तो उनके अनुसार समाजशास्त्र मानवीय समाज सम्बन्धित सभी पहलुओं का ज्ञान एवं अध्ययन है। भारतीय विचारकों के अनुसार वेदों से सर्वोत्तम समाज शास्त्र की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि वेदों में वे सभी ज्ञान राशियां पहले से ही हैं, जिनकी कल्पना कोई मानव बुद्धि कर सकती है।

वैदिक वाड्ग्मय के अनुसार समाज शास्त्र वह ज्ञान राशी है जो मानवीय जीवन के प्रतिपक्षों पर न केवल विचार अथवा अवधारणाएं प्रस्तुत करती है अपितु उनके आचार, व्यवहार सम्बन्धी नियमों एवं विधियों का भी उपदेश करती हैं। यथा वेद उपदेश करते हुए कहता है कि मनुष्य बनो![5] इसके साथ–साथ मनुष्य के लिए क्या गुण स्वभाव

एवं कर्त्तव्य उचित हैं, उनका भी निर्देशन वेदों के द्वारा उपलब्ध होता है।

स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि समाज का मूल आधार उसकी बनावट ही सब दोषों का जनक है। पूर्णत्व तभी सम्भव है, जब मनुष्य के मन में परिवर्तन हो, जब मनुष्य स्वेच्छा से मन को परिवर्तित कर सके, और इसमें परिवर्तन तभी सम्भव है, जब हर व्यक्ति अपने विचारों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लें।[6]

समाज शब्द पारस्परिक स्वभाव का द्योतक है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिसके अनुसार समाज के समन्वय सूत्र रूप में वेद संदेश है कि परमात्मा सब जीवों को संयुक्त करता हुआ सुखों की वर्षा करता है।[7] सब मनुष्य मिलकर चलो, मिलकर बोलो, तुम्हारे मन एक प्रकार के विचार करें। जिस प्रकार से प्राचीन काल में विद्वान मनुष्य समाज से अपना भाग बिना संघर्ष के ग्रहण किया करते थे, उसी प्रकार से तुम भी एकमत हो करके अपना भाग ग्रहण करो।[8] ईश्वर सदा से ही सभी मनुष्यों को साधन सामग्री समान रूप से वितरित करता है। अपने विचारों, हृदय की भावनाओं एवं क्रियाकलापों के द्वारा परस्पर समन्वय स्थापित कर अपनी तथा सम्पूर्ण समाज की उन्नति करो। सामाजिक संगठन को सुदृढ़ करने के लिए अपने संकल्प विचार और उद्देश्यों में, हृदय और मन के भावों में समरूपता स्थापित करो। समाज के वृद्ध और युवा अथवा बौद्धिक व आर्थिक रूप से ज्येष्ठ व कनिष्ठ लोग भेदभाव से रहित होकर सौभाग्य की वृद्धि के लिए भातृभाव से सदैव आगे बढ़े।[9]

वैदिक समाज संरचना का चित्रण वैदिक वाङ्मय में पर्याप्त उपलब्ध होता है। वेद ने पशुओं का उल्लेख किया है।[10] तैत्तिरीय संहिता में इन ग्राम्य पशुओं की व्याख्या की गई है कि ये ग्राम्य पशु क्रमशः पुरुष, अश्व, गो, अवि, ऊर्जा हैं।[11] इनमें पुरुष को भी पशु कहते हुए उसे पशुओं में प्रथम स्थान दिया गया है। वस्तुतः ये ग्राम्य पशु समाज संगठन के चार अंगभूत प्रतिनिधि हैं। इन ग्राम्य पशुओं के ग्राम्यत्व में परस्पर सहकारिता का भाव ही निहित है। यहां ग्राम्य शब्द से अभिप्राय उन सामाजिक सदस्यों से है जो परस्पर एक दूसरे के लिए भोजन की व्यवस्था करते हैं।

स्वामी विवेकानंद समाज व्यवस्था में वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे। वे समाज में प्रत्येक मनुष्य को आगे बढ़ने का अवसर देने के साथ–साथ हर एक मनुष्य को उसकी दक्षता एवं योग्यता के अनुरूप ही सामाजिक स्थिति से लाभ प्रदान करना चाहते थे। उन्होंने वर्ग संघर्ष की अपेक्षा विश्व बन्धुत्व पर अधिक बल दिया।

प्राचीन वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था के ही स्वामी विवेकानंद पक्षधर थे। इनके अनुसार भी समाज में वर्ण व्यवस्था केवल श्रम के विभाजन तक ही सीमित थी, इसका धर्म से कोई भी सम्बंध नहीं था।

किसी भी समाज का निर्माण अपने तीन घटकों के द्वारा होता हैः–

(क) वर्ण

(ख) आश्रम

(ग) सम्प्रदाय

(क) वर्णः– वर्ण से अभिप्राय चयन करने से है। इस शब्द का व्यावहारिक अर्थ व्यवसाय चुनने से है। वर्ण भेद से ही समाज के विभिन्न वर्गों की स्थिति प्रकट हो जाती है। ऋग्वेद में सर्वप्रथम वर्ण शब्द दृष्टिगत होता है।[12] वैदिक साहित्य और प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी आर्य और अनार्य दो वर्णों का उल्लेख मिलता है।[13] वैदिक काल में मानव समूहों के चार वर्ण बताये गये हैं, उनका सम्बंध उनके कर्म से ही कहा गया है। पठन–पाठन करने वाले तथा सदाचारी और प्रशस्तकर्मी होने से ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रिय का कर्म रौद्र है, इसलिए इनके वर्ण को लाल, वैश्यों का सम्बन्ध धन से है और धन में पीत वर्ण का स्वर्ण उत्तम माना जाता है, इसलिए वैश्यों के वर्ण को पीत और शूद्रों को अपवित्र एवं अनार्य होने के कारण इनका वर्ण कृष्ण त्वच कहा गया है।

मानव समाज की चार मूलभूत आवश्यकताएँ हैं जोकि ज्ञान, रक्षा, जीविका और सेवा हैं। इसी को आधार बनाकर वैदिक काल में

चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों का निर्माण किया गया।

ब्राह्मणः— श्रम के विभाजन के फलस्वरूप विद्वान, तपस्वी, ज्ञानी, धार्मिक कर्मकाण्ड, का सम्पादन करने वाले तथा वेदों मंत्रों के दृष्टा ब्राह्मण कहलाए। यह वर्ण आध्यात्मिक चिंतन, ज्ञान के प्रसार एवं संरक्षण में लगा हुआ था। ब्राह्मण शब्द अध्यात्मिक शक्ति एवं कर्म का बोधक है।[14] ब्राह्मणों का मुख्य धर्म अध्ययन है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों के कर्तव्यों को निम्न प्रकार का बताया है कि ब्राह्मण में अंतःकरण का निग्रह, इन्द्रियों का दमन, बाहर भीतर की शुद्धि, धर्म के लिए कष्ट सहना और क्षमा भाव एवं मन, इन्द्रिय और शरीर की सरलता, आस्तिक बुद्धि, शास्त्र विषयक ज्ञान और परमात्म तत्व का अनुभव, ये ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्तव्य है।[15]

क्षत्रियः— शूरता और रक्षा करना क्षत्रियों का प्रधान धर्म है। देवताओं को भी इसलिए क्षत्रिय कहा गया है क्योंकि वे लोगों के रक्षक हैं।[16] क्षत्रियों का वर्ण–धर्म युद्ध भूमि में लड़ना और शत्रुओं का संहार करना है। युद्ध भूमि में लड़ते समय यह चिन्ता नहीं करनी चाहिए कि विजय होगी या मृत्यु।[17] क्षत्रियों का वर्ण धर्म केवल सैनिक कार्य और शासन करना ही नहीं था अपितु कृषि एवं पशुपालन भी था। मनुस्मृति ने क्षत्रियों के लिए दीर्घ ब्रह्मचर्य से सांगोपांग वेद आदि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, अग्नि होत्र आदि यज्ञों को करना, सुपात्रों को विद्या, सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, विषयों से अनासक्त होकर सदा जितेन्द्रिय रहना, लोभ व्यभिचार, मद्यपानादि नशा आदि दुर्व्यसनों से पृथक रहकर विनय, सुशीलता आदि शुभ कार्यों में सदा प्रवृत्त रहना, क्षत्रिय के कर्तव्य बताये गये हैं।[18]

वैश्यः— वैश्यों के वर्ण धर्म के सम्बन्ध में गौतम[19], कौटिल्य [20], मनु[21] और महाभारतकारों [22] के मत समान हैं। इनके अनुसार कृषि, पशुपालन और वाणिज्य वैश्यों के वर्ण धर्म हैं। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के समान उनकी स्थिति नहीं थी। अध्ययन, यजन और दान देना भी उनके वर्ण धर्म माने गए हैं। वैश्यों के कर्त्तव्यों में गाय आदि पशुओं का पालन करना, विद्या व धर्म की वृद्धि करने व कराने के लिए धन आदि का काम करना, अग्निहोत्र आदि यज्ञों का करना, वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन करना, सब प्रकार के व्यापार व खेती करना मनुस्मृति में कहे गये है।[23] श्रीमद्भगवद्गीता में वैश्य के कर्त्तव्य खेती करना गो पालन आदि और क्रय–विक्रय रूप सत्य व्यवहार करना कहे गये हैं।[24]

शूद्रः— शूद्रों का मुख्य वर्ण धर्म सेवा करना है। यह इस बात से भी दृष्टिगत होता है कि ब्राह्मण, राजन्य एवं वैश्य का सम्बन्ध जहां ब्रह्म, क्षत्र और मरूत से माना गया है वही शूद्रों का सम्बन्ध श्रम से बताया गया है। शूद्रों को वे सुविधाएं प्राप्त नहीं थी जो द्विजों को प्राप्त थी। धर्म सूत्रों में उनकी निम्नवत् स्थितियों का वर्णन है तथा उन पर अनेक प्रकार के कड़े नियंत्रण लगाये गये थे। शूद्रों को शमशान की भांति अपवित्र बताया गया है।[25] शूद्रों की स्थिति यहां तक नीचे गिरा दी गई थी कि वे त्रिवर्णों द्वारा त्यागा हुआ, पदत्राण, वस्त्र, आसन आदि का ही उपयोग कर सकते थे।[26] मनुस्मृति में कहा गया है कि परमेश्वर ने शूद्रों को जो विद्याहीन – जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो, उस शूद्र के लिए इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनों वर्णों की निन्दा से रहित प्रीति से सेवा करना, केवल यही कर्म करने की आज्ञा दी है।[27]

स्वामी विवेकानंद के विचार में वर्ण व्यवस्था मात्र श्रम विभाजन करने मात्र के लिए थी। धर्म से वर्ण व्यवस्था का कोई भी सम्बंध नहीं था। स्वामी जी जात–पात के धुर विरोधी थे, क्योंकि वह मानते थे कि जाति व्यवस्था विभाजन को धर्म के क्षेत्र तक ले जाती है। विवेकानंद के अनुसार धर्म में कोई जाति नहीं होती। सर्वोच्च जाति एवं निम्नतम जाति दोनों से ही एक मनुष्य श्रमण हो सकता है। जाति व्यवस्था वेदान्त के पूरी तरह से विरुद्ध है। स्वामी जी ने इस प्रकार वेदान्तिक दृष्टिकोण से जाति व्यवस्था की पूरी–पूरी आलोचना की। उन्होंने जाति व्यवस्था को धार्मिक संस्था मानने का विरोध किया है। उनका कहना है कि जब तक जाति व्यवस्था को

धार्मिक संस्था मानते रहेंगे तब तक यह जात–पात का रोग समाप्त नहीं होगा। इस प्रकार कह सकते हैं कि जाति व्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था घोषित करके ही समाप्त किया जा सकता है।

(ख) आश्रमः– वर्ण धर्म के समान ही मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन का क्रमशः संस्कार और विकास होता है और उसमें क्रमिक अवस्थायें होती हैं, जिनको हम आश्रम कहते हैं। प्रत्येक आश्रम के लिए मनुष्य जीवन के संस्कार के आधार पर कर्त्तव्यों का विधान धर्म शास्त्रों में किया गया है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पदार्थों की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास, इन चार आश्रमों का पालन करना मनुष्यों के लिए कहा गया है। आश्रम को परिभाषित करते हुए कहा है कि जहां समाज के सभी वर्ग योग्यता के अनुरूप श्रम करते हैं, उसे आश्रम कहते हैं।[28] आश्रमों की संख्या चार निर्धारित की गई हैं, जोकि निम्नलिखित हैंः–

(i) ब्रह्मचर्य (iii) वानप्रस्थ
(ii) गृहस्थ (iv) संन्यास

ब्रह्मचर्यः– द्यौ लोक तथा पृथ्वीलोक उभ्यत्र विद्यमान पदार्थो, भौतिक, अभौतिक, आध्यात्मिक तत्त्वों का अन्वेषण करता हुआ जो विचरण करता है वह ब्रह्मचारी है।[29] ब्रह्मचर्याश्रम को सभी आश्रमों की नींव कहा गया है। जीवन की प्रारम्भिक अवस्था ब्रह्मचर्य ही अग्रिम तीन आश्रमों का निर्णायक रूप होती है। जैसा गुण कर्म स्वभाव ब्रह्मचारी अपने अंदर विकसित करता है, उसी के अनुरूप वह वर्ण को ग्रहण करता है। यदि ब्रह्मचर्य काल में ब्रह्मचारी विद्यादि शुभ गुणों के साथ अध्ययन–अध्यापन गुणों को स्वयं में विकसित करता है तो वह ब्राह्मण वर्ण, शौर्य गुण वाला क्षत्रिय, वाणिज्य तत्व वाला वैश्य वर्ण को गृहस्थ आश्रम में ग्रहण करता है।

वेदों में ब्रह्मचर्य की पर्याप्त रूप से व्याख्या की गई है। ब्रह्मचर्य को मृत्यु से विजित करने का एक मात्र साधन कहा गया है।[30] ब्रह्मचारी स्वतय से आचार्य को संतुष्ट करता है और संतुष्ट आचार्य अपने ब्रह्मचारी को अपनी सम्पूर्ण विद्या से आप्लावित कर देता है। छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मचर्य के त्रिविध रूपों की चर्चा की गई है। प्रथम 24 वर्ष पर्यन्त जितेन्द्रिय रहकर विद्याध्ययन करना। इसका साम्य गायत्री मंत्र में प्रयुक्त छन्द जिसके 24 अक्षर होते हैं, से की गई है।

स्वामी विवेकानंद के अनुसार पूर्ण ब्रह्मचर्य के आदर्श को प्राप्त करने के लिए किसी भी जाति को मातृत्व के प्रति परम आदर की धारणा दृढ़ करनी चाहिए, और वह विवाह को अछेद एवं पवित्र धर्म संस्कार मानने से हो सकती है।[31] स्वामी जी की दृष्टि में जीवन का गौरव ब्रह्मचर्य है। जीवन से तमोगुण को दूर करने के लिए स्वामी विवेकानंद कहते हैं कि पहले एकान्त में बैठकर धर्म– जीवन को अच्छी तरह गढ़कर पूर्ण रूप से त्यागी होकर अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करना होगा, तभी जीवन से तमोगुण दूर हो सकता है, अन्यथा नहीं।

गृहस्थ आश्रमः– ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास ये तीनों आश्रम वाले व्यक्ति ज्ञान और अन्नादि के दान के द्वारा प्रतिदिन गृहस्थ के द्वारा ही पोषित किये जाते हैं, इसलिए गृहस्थ आश्रम को सबको आश्रय देने वाला कहा गया है।[32] गृहस्थ आश्रम को निर्बल इन्द्रिय वाले पुरुष के लिए निषेध और सबल इन्द्रियों वाले पुरुष के लिए धार्य कहा गया है। जो लौकिक व अलौकिक सुखों की प्राप्ति की इच्छा करने वाला है एवं जो अक्षय स्वर्ग की चाहत रखता है, उसे प्रयत्न पूर्वक गृहस्थ आश्रम धारण करना चाहिए।[33] गृहस्थ आश्रम में प्रवेश से पूर्व योग्यता का उल्लेख करते हुए मनुस्मृति में ही कहा गया है कि ब्रह्मचर्य से प्लुत हुए बिना अर्थात् निष्ठा से ब्रह्मचर्य पूर्वक चारों वेद अथवा तीनों वेद अथवा दो वेद अथवा कम से कम एक वेद का मनन पूर्वक अध्ययन करने के उपरांत ही गृहस्थ आश्रम में प्रवेश ले।

अत्यधिक शारीरिक कार्य करने वाले, वीर्य सींचने में समर्थ, पूर्ण युवावस्था हृदयों की प्रिय स्त्रियों को प्राप्त होकर, शत वर्ष या उससे भी अधिक वर्षों तक आयु को आनन्द से भोगकर पुत्र–पौत्रादि से सदा संयुक्त रहते हैं। जिस प्रकार से पूर्व–वर्तमान शरद ऋतुओं और वृद्धावस्था को प्राप्त कराने वाली प्रातःकाल की बेलाओं को, रात्रि

और दिन शरीर की शोभा को अतिशय वृद्ध कर बल और शोभा को दूर कर देता है। ऐसे में स्त्री या पुरुष अच्छे प्रकार के बल और युवावस्था को प्राप्त करके ही विवाह करूं, ऐसा निश्चय करें। ऐसा करने से वैवाहिक जीवन सदैव सुखदायक एवं इसके विपरीत आचरण करने से वैवाहिक जीवन सदैव दुःखदायक होता है।

वानप्रस्थ आश्रमः– जीवन के आधे भाग को मनुष्य ब्रह्मचर्य एवं गृहस्थ आश्रम में व्यतीत करता है। इन दोनों को सुखपूर्वक भोगने के बाद शास्त्रों ने मनुष्य के लिए अगला भाग वानप्रस्थ आश्रम कहा है। वानप्रस्थ का सामान्य अर्थ वन में प्रकर्ष रूप से स्थिर होना है। अर्थात् वानप्रस्थ जीवन का वह विभाजन है, जहां व्यक्ति संसार के विषय भोगों से अलग होकर एकांत निवास करता हुआ, शम, दम, तप आदि पूर्वक सब शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिंतन एवं योगाभ्यास में अपनी ऊर्जा को नियोजित करता है।

महर्षि दयानंद के अनुसार वानप्रस्थ संस्कार उसे कहते हैं जो विवाह से सन्तानोत्पत्ति करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से पुत्र के भी एक संतान हो जाए अर्थात्, जब पुत्र के भी पुत्र हो जाए तब पुरुष को वन में जाकर व्रत, दीक्षा, सत्य भाषण आदि के व्रत नियमों को धारण करे। ब्रह्मचर्य आदि का अनुबंध तथा सत्य विज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्न करें।[34]

संन्यास आश्रमः– संन्यास शब्द का प्रधान अर्थ त्याग करना है। जीवन के अन्तिम चरण में गृह, पुत्र, पत्नी आदि का परित्याग करके सीमित परिवेश से निकलकर असीमित व्यक्तित्व को स्वीकार करने वाला पुरुष ही संन्यासी एवं यह अवस्था संन्यास आश्रम कहलाती है। मनुस्मृति में कहा गया है कि पवित्र आत्मा और पवित्र अन्तःकरण, मननशील और अनासक्त पुरुष गृहस्थाश्रम से संन्यास ग्रहण कर ले या वह ब्रह्मचर्य आश्रम से भी सीधे संन्यास ग्रहण कर ले।[35] मनुमहाराज आगे कहते हैं कि जो पुरुष सब प्राणियों को अभयदान व सत्य उपदेश देकर गृहस्थ आश्रम से संन्यास ग्रहण कर लेता है, उस ब्रह्मवादी वेदोक्त सत्योपदेशक संन्यासी को मोक्षलोक और सब लोक–लोकान्तर तेजोमय होकर प्राप्त हो जाते हैं।

संन्यास की दीक्षा लेने का कोई काल नहीं रखा गया है। इसके विषय में तो यहां तक कहा गया है कि यदि मृत्यु से एक क्षण पूर्व भी वैराग्य उत्पन्न हो जाए तो उसे भी संन्यास की दीक्षा दी जा सकती है। उस समय ''प्रेष'' मंत्र का जाप करने तथा ''संन्यस्तोऽहम्'' कथन कहने मात्र से ही वह संन्यास दीक्षा प्राप्त कर संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेता है।[36]

यद्यपि दृढ़ वैराग्य के उदय होने पर वह ब्रह्मचर्य, गृहस्थ अथवा वानप्रस्थ किसी भी आश्रम से किसी भी समय संन्यास आश्रम में प्रवेश कर सकता है लेकिन दृढ़ वैराग्य के बिना वह कभी भी ब्रह्मचर्य व गृहस्थ आश्रम से संन्यास ग्रहण ना करें। वानप्रस्थ आश्रम में आकर तो स्वतः ही विरक्ति का भाव आ जाता है, अतः इस अवस्था में अवश्य ही संन्यास आश्रम को ग्रहण करना चाहिए।

स्वामी विवेकानंद संन्यास का अर्थ त्याग से लेते है। इनके अनुसार मृत्यु से प्रेम करना ही त्याग है।[37] संन्यास आश्रम में रहने वाले संन्यासी का उद्देश्य मनुष्य का निर्माण करना होना चाहिए। संन्यासी के जीवन में अवज्ञा का कोई भी स्थान नहीं होना चाहिए, साथ ही उसको स्वतंत्र भी रहना चाहिए। स्वामी जी ने अपने संन्यासियों को सम्बोधित करते हुए कहा भी है कि तुम इतने स्वतंत्र रहो जितनी वायु, पर हाँ, साथ ही ऐसे आज्ञापालक तथा नम्र जैसा कि यह पौधा।[38]

(ग) सम्प्रदायः– साधारणतः अज्ञान के कारण लोग धर्म एवं सम्प्रदाय में भेद न मानकर दोनों को एक ही मानने की भूल कर बैठते हैं, जबकि यह दोनों पूर्णतः अलग–अलग है। जहां धर्म परम पवित्र और ईश्वर स्वरूप है वही मत या सम्प्रदाय तो ईश्वर तक पहुंचने के रास्ते हैं।

सम्प्रदाय धर्म से भिन्न है। किसी व्यक्ति विशेष का उसके वारिसों के प्रति जो दाय है, उसे 'सम्प्रदाय' नाम से अभिहित किया जा सकता है। दर्शन सम्बन्धी विभिन्न विचारणायें, ईश्वरीय विश्वास के विभिन्न रूप तथा पूजा–उपासना की भिन्न प्रणालियां निश्चय ही साम्प्रदायिक हैं क्योंकि उनका प्रवर्तन भिन्न–भिन्न पुरुषों द्वारा किया गया और वे उनके अनुयायियों द्वारा स्वीकार कर लिये गए थे। इस तरह जरदुश्त, ईसा और मोहम्मद

द्वारा प्रचलित और प्रचारित मत विश्वास जहां सम्प्रदाय की सीमा में आयेंगे, वहां भारत के भी शैव, वैष्णव, कबीरपंथ, दादूपंथ आदि विभिन्न व्यक्ति निष्ठ विचार धाराओं को सम्प्रदाय ही कहा जाएगा।

यह आश्चर्य की बात है कि धर्म सार्वभौम, चिरन्तन और सर्वकालीन स्वरूप को दृष्टिपथ से ओझल होकर 'सर्वधर्म समन्वय' की बात करने वाले हमारे महापुरुषों ने उसे मनुष्य द्वारा निर्मित एवं प्रचलित संकीर्ण धर्म 'सम्प्रदाय' से मिला दिया और मनुष्य मात्र के लिए अभिष्ट सत्य, न्याय, दया, क्षमा, मैत्री और बन्धुत्व आदि मानव धर्म में सन्निहित गुणों को साम्प्रदायिक मत विश्वासों और आग्रहों की समतुला पर रखकर धर्म के उदात्त एवं महनीय स्वरूप को क्षति पहुंचाई।

आज से लगभग 106 वर्ष पहले स्वामी विवेकानंद ने सारी दुनिया को एक ही कुटुम्ब अर्थात् ''वसुधैव कुटुम्बकम्''[39] का अमृत पिलाया। यही था वास्तव में भारतीय संस्कृति का जय घोष जो सत्य पर आधारित है, सनातन है, पुरातन है।

समय बीतने के साथ–साथ मान्यताएं बदलती चली गईं और इस परिवर्तन का प्रभाव स्वाभाविक रूप से समाज पर पड़ा। इसी के कारण कुछ समस्यायें हमारे सामने सीना तानकर आ खड़ी हुई जोकि छूत के रोग की तरह से संक्रमण करती हुईं समस्त समाज को नष्ट कर देना चाहती हैं। आज के समय में इसी प्रकार का एक सामाजिक और धार्मिक रोग पनप रहा है जोकि हमारे देश को नष्ट कर देना चाहता है। इस मारक रोग का नाम है – साम्प्रदायिकता। जिसका हौवा खड़ा कर समाज और धर्म के कथित कर्णधार अपने स्वार्थों की पूर्ति में लगे हैं।

अपनी मूल अवधारणा में सम्प्रदाय या साम्प्रदायिकता कोई बुरी वस्तु नहीं है। एक ही विशेष इष्टदेव और आचार को मानने के कारण किसी वर्ग विशेष को सम्प्रदाय कहा जाता है। किन्तु इस उत्कर्ष पूर्ण अर्थ का समय के साथ–साथ आज अर्थ हो गया है – घोर असहिष्णु आपस में लड़ने वाले, और मारने–मरने के लिए सदैव उद्यत एक वर्ग विशेष। ऐसे लोग जिनका कोई मानवीय दृष्टिकोण नहीं, ईश्वर अल्लाह नहीं और उच्च राष्ट्रीय, आदर्श और चरित्र नहीं है, साम्प्रदायिक कहलाते हैं।

भारत वर्ष में आरम्भ से ही सम्प्रदायों की कमी नहीं रही है, वैदिक सम्प्रदाय, उपनिषद् सम्प्रदाय, भगवत् सम्प्रदाय, वैष्णव सम्प्रदाय, शैव और श्रौत सम्प्रदाय फिर आगे चलकर रामानन्दी बल्लभ, सूफी और सखी सम्प्रदाय आदि इस देश में रहे हैं, और आज भी बन रहे हैं। इन सम्प्रदायों में मतभेद तो रहे, पर इन सबने उस रोग का स्वरूप धारण कभी नहीं किया, जो जीवन को, समाज को और राष्ट्रीयता को अतीत की कहानी बना देना चाहता है।

वर्तमान समय में एक शब्द का चलन बड़े जोरो पर है वह है धर्म–निरेक्षता और निरपेक्ष का अर्थ होता है अर्थात् धर्म से तटस्थ। धर्म–निरपेक्ष शब्द केवल समाज को गुमराह करने के लिए हमारे राजनेताओं ने हम पर थोप दिया है। जब भारत धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र है तो फिर बहुसंख्यक हिन्दू और अल्पसंख्यक मुस्लमान, या सिख कहने का भला क्या अर्थ है? अलग–अलग सम्प्रदायों के लिए अलग–अलग कानूनी व्यवस्थायें क्यों हैं? जब देश जनतांत्रिक और धर्म निरपेक्ष है तो ये सारी विसंगतियां क्यों हैं? जो मानवीय मूल्यों को नष्ट करने पर तुली हुईं हैं।

स्वामी विवेकानंद ने मूल रूप में कभी भी सम्प्रदाय या साम्प्रदायिकता को गलत नहीं माना, अपितु मनुष्य को धर्म के सापेक्ष होने की अर्थात् धर्म से सदा निकटता की बात अपने समाज–दर्शन में की है। स्वामी विवेकानंद के अनुसार वास्तव में मनुष्य धर्म सापेक्ष होता है। धर्म सापेक्ष होना ही जीवन का आभूषण है और सभी धमों का समान आदर करना, यही सार्वभौम धर्म है।

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति 5.44
2. मनुस्मृति 12.97
3. मनुस्मृति 12.98
4. ऋग्वेदादिभा भू. वेदात्पत्ति विषय।
5. मनुर्भव जनया दैत्यं जनम्।। ऋग्वेद 10.53.6
6. विवेकानंद साहित्य, चतुर्थ खंड, पृष्ठ–157

7. ऋग्वेद 10.191.1
8. ऋग्वेद 10.191.2
9. ऋग्वेद 10.191.3
10. ऋग्वेद 10.90.8
11. तै.सं. 2.1.1.5
12. ऋग्वेद
13. मज्झिम निकाय पृष्ठ 93
14. हिस्ट्री आफ धर्म शास्त्र – भाग दो, पृष्ठ 27, पी. वी. काणे
15. श्रीमद् भगवद् गीता 18.42
16. ऋग्वेद 4.4201
17. भीष्य 27.20
18. मनुस्मृति 1.98
19. गौतम धर्मसूत्र 10.1.3
20. कौटिल्य अर्थशास्त्र 1.2
21. मनुस्मृति 9.397
22. महाभारत शांतिपर्व 182.6
23. मनुस्मृति 1.90
24. श्रीमद्भगवद्गीता 18.44
25. बौध धर्मसूत्र 4.3
26. गौतम धर्म सूत्र 10.60
27. मनुस्मृति 1.91
28. वैदिक साहित्य में समाज दर्शन – नरेश चंद्र पृष्ठ 66
29. अर्थर्ववेद 11.7.1
30. अर्थर्ववेद 11.7.19
31. विवेकानंद साहित्य – अष्टम् खण्ड पृष्ठ 394
32. मनुस्मृति 3.78
33. मनुस्मृति 3.79
34. संस्कार विधि वानप्रस्थ
35. मनुस्मृति 6.41
36. धर्म शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ 502
37. विवेकानंद साहित्य – पंचम् खंड पृष्ठ–336
38. विवेकानंद साहित्य – पंचम् खंड पृष्ठ–338
39. अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
40. उदार चरितानन्तु वसुधैव कुटुम्बकम।
41. पंचतंत्र (सिंहकारक मूर्ख ब्राह्म कथा–37)